

अरविन्द के दर्शन की मौलिक अवधारणाएँ

प्रो. (डॉ.) सोहन राज तातेड़,

पूर्व कुलपति सिंघानिया विश्वविद्यालय, राजस्थान

यह जीवन—दृष्टि, स्पष्ट ही, एक पूरे दर्शन तथा सत्ता—शास्त्र में प्रतिष्ठित प्रतीत होती है। उसे समझे बिना हम इसे पूरी तरह हृदयगम नहीं कर सकते हैं। अतः अब हम साहसपूर्वक श्रीअरविन्द के दर्शन को जानना चाहेंगे, सत्ता और संसार का विस्तृत ज्ञान प्राप्त करना चाहेंगे, जिससे मानव—जीवन के तात्त्विक अर्थ और प्रयोजन को अच्छी तरह समझ सकें।

दार्शनिक अनुभूति और चिंतन किसी दार्शनिक की अत्यन्त मौलिक कृति होती है। यह उसके व्यक्तित्व की अनन्यतापूर्ण अभिव्यक्ति होती है। अतः प्रत्येक दर्शन को ऐसी अपूर्व कृति के रूप में ही हमें समझने का यत्न करना चाहिए। परन्तु दार्शनिक के व्यक्तित्व के अतिरिक्त उसके दर्शन पर दो अन्य प्रभाव भी लगभग सदा ही काम किया करते हैं। एक समकालीन सांस्कृतिक अवस्था और तत्कालीन प्रश्न तथा समस्याएँ और दूसरा उससे पहले का दार्शनिक विचार तथा परम्परा। श्रीअरविन्द के दर्शन में ये तीनों प्रभाव खूब अच्छी तरह देखे जा सकते हैं। श्रीअरविन्द एक महान् आध्यात्मिक व्यक्तित्व थे। उनके ब्रह्म, जगत् और व्यक्ति—संबंधी आध्यात्मिक अनुभव उनके दर्शन के आधारभूत तथ्य हैं। उनका दर्शन मानव के वर्तमान आधारभूत प्रश्नों का गंभीर समाधान है, आजकल के विकट संकटों के समन्वय का प्रयास है तथा यह हमारे ऐतिहासिक मायावाद के सिद्धांत को विशेष रूप से अतिक्रांत करने का यत्न करता है, मायावाद की अपनी यथार्थ सार्थकता दिखलाकर ब्रह्म और जगत् के एक बृहत्तर समन्वय को प्रतिपादित करता है।

श्रीअरविन्द का दर्शन मूल में अंग्रेजी में लिखा गया है, परन्तु दृष्टि और शैली से सर्वथा भारतीय है तथा प्रत्यक्ष रूप से भी यह अपना संबंध वेद, उपनिषद्, गीता और तंत्र से मानता है। परन्तु इस प्रकार भारतीय परम्परा से संबद्ध होते हुए भी यह वर्तमान समय के सम्पूर्ण ज्ञान—विज्ञान और कला—कौशल के पाश्चात्य विकास को विचार में लेता है और वर्तमान सम्पूर्ण मानव—स्थिति का समाधान प्रस्तुत करने का यत्न करता है। वास्तव में दर्शन भी एक विकसनशील विज्ञान है। यह मानव के परिवर्तनशील ज्ञान—विज्ञान और संस्कृति के नये प्रश्नों

पर गंभीर विचार प्रस्तुत करता है और उनके समाधान ढूंढने का यत्न करता है। अवश्य ही दर्शन का विषय सत्य तथा सत्ता है और ये सनातन वस्तुएं हैं। फिर भी हमारी एतत्संबंधी अनुभूति तो हमारे विकास के अनुसार बदलती रहती है तथा इनकी अभिव्यक्ति भी परिवर्तन और विकास का विषय है। अतः जीवन्त जाति का दार्शनिक चिन्तन और अनुभव नित्य नया होगा अवस्था-भेद से अनन्त सत्य का नया रूप होगा।

भारतीय दर्शन और पाश्चात्य दर्शन की शैलियों में कुछ महत्त्वपूर्ण भेद हैं। पाश्चात्य दर्शन प्रधानतः बौद्धिक गवेषणा है, विशेषकर पिछले चार सौ वर्षों में वह उत्तरोत्तर एक सार्वभौम विज्ञान ही बन गया है। इसके विपरीत भारतीय दर्शन सत्ता विषयक किसी आध्यात्मिक अनुभूति से, मन-बुद्धि को, मन-बुद्धि की ही युक्ति और भाषा में, परिचित कराने का प्रयास है। फिर दर्शन बिना योग के संभव नहीं। दार्शनिक को व्यक्तिगत विकास द्वारा सत्य को अनुभव करने का यत्न करना होता है। बुद्धि तीव्र होने से वह युक्ति कर सकेगा, महत्त्वपूर्ण परिणाम निकाल सकेगा, विशाल कल्पनाएँ भी कर सकेगा, परन्तु वह उन तथ्यों के मर्म को कल्पना रूप में ही प्रस्तुत कर सकेगा। इन्द्रियों की दासता की अवस्था में बुद्धि भी शुद्ध रूप में कार्य नहीं कर सकती। इस सत्य को आज पाश्चात्य मनोविश्लेषण अवचेतन मन के ज्ञान के आधार पर, अपने तरीके से, जतला रहा है। भारत में इसी के लिए योग का अभ्यास आवश्यक माना गया था। यहां हर दर्शन की सहगामिनी एक योगशैली रही है।

श्रीअरविन्द का दर्शन इन सब दृष्टियों से पूर्णतया भारतीय है। यह सत्ता के बौद्धिक आनुमानिक ज्ञान से बिल्कुल भी संतुष्ट नहीं। यह उसके प्रत्यक्ष और अपूर्ण ज्ञान का आग्रह करता है तथा इसके लिए व्यक्तिगत विकास और योग को अनिवार्य ठहराता है। फिर भी इसका मौलिक प्रश्न, जिससे इसका चिंतन शुरू होता है, भारतीय परम्परा से बहुत स्वतंत्र है। भारतीय दार्शनिक चिंतन सामान्यतया दुःख के अनुभव से तथा इसके उपाय की खोज के रूप में शुरू होता है। श्रीअरविन्द के निकट मानव की मौनिक अभीप्सा एक और रूप में प्रकट होती है। मानव चाहता है पूर्ण ज्ञान, पूर्णानंद तथा अमरत्व, परन्तु उसका वर्तमान जीवन है इन आदर्शों का नितांत निषेध और प्रत्यक्ष खंडन। बस, इस विरोध का समाधान ही उनके दर्शन का विषय है। श्रीअरविन्द कहते हैं, "सत्ता के सभी प्रश्न सारतः समस्वरता के प्रश्न होते हैं।"1 मानव की वर्तमान अवस्था तथा मानव के अनिवार्य आदर्शों में – ऐसे आदर्शों में, जो उसके

इतिहास में अनेक बार मन्द पड़कर पुनः-पुनः नित्य नये बल से प्रकट होते रहे हैं – हमें समन्वय प्रस्तुत करना है, अर्थात् मानव, जो अविद्याग्रस्त है, पूर्ण ज्ञान को कैसे प्राप्त कर सकता है ? मानव, जो आज सुख-दुःख से पीड़ित है, शुद्ध आनन्द कैसे उपलब्ध कर सकता है, तथा मानव, जो आज असमर्थ तथा मृत्यु के कठोर नियम का दास है, अमर कैसे बन सकता है ? स्पष्ट है कि मानव मानवता को पार करके देवत्व प्राप्त करना चाहता है। बस, श्रीअरविन्द-दर्शन का मौलिक प्रश्न यही बन जाता है – मानव दिव्य जीवन कैसे प्राप्त कर सकता है ? परन्तु मानव व्यक्ति घनिष्ठ रूप से मानव-जाति से सम्बद्ध है। व्यक्ति के विकास और जाति के विकास में अन्योन्याश्रयता है। व्यक्तियों के विकास से, जाति-स्तर ऊँचा होने से व्यक्ति और ऊँचा उठता है। इस प्रकार श्रीअरविन्द के लिए, वास्तव में, “मानव दिव्य जीवन कैसे प्राप्त कर सकता है ?” का रूप हो जाता है, “पृथ्वी पर दिव्य जीवन कैसे प्राप्त किया जा सकता है ?” अर्थात् भूलोक देवलोक कैसे बन सकता है ? अथवा मानव की प्रकृति, जो इ समय अहंकार आधारित होने से अन्दर और बाहर मूलतः भेद को ही अनुभव करती है, कैसे एकत्व-दृष्टि-सम्पन्न बनाई जा सकती है ? यह मौलिक रूपान्तर उसमें कैसे सिद्ध किया जा सकता है ?

इसी मौलिक प्रश्न को एक और परिभाषा में भी रखा जा सकता है। मानव का विस्तृततम अनुभव दो ध्रुव प्रस्तुत करता है। एक पूर्णतया चेतन आत्म-तत्त्व और दूसरा सर्वथा अचेतन जड़ तत्त्व। यह जड़ और चेतन की असीम खाई कैसे भरी जा सकती है ? इनमें समन्वय कैसे साधा जा सकता है ? आखिर इस एक ही संसार में ये दोनों मूलतः विरोधी तत्त्व इक्के नहीं रह सकते। यदि ये सर्वथा विरोधी ही होते तो इनका संबंध, जैसा कि मानव के अस्तित्व में हम देखते हैं, कैसे संभव हो पाता है ? दूसरे शब्दों में, क्या जड़ चेतन की अभिव्यक्ति हो सकता है ? क्या विकास-क्रम में कभी यह पूर्ण चेतन को भी अभिव्यक्त करने में समर्थ हो सकेगा ? यदि हो सकेगा, तो पृथ्वीतल पर दिव्य अथवा भागवत जीवन भी संभव हो सकेगा, या मानसिक चेतना की जगह भगवान् की पूर्ण निरपेक्ष चेतना भी प्रकाश में आ सकेगी ?

जड़ और चेतन का विरोध सामान्य अनुभव है और लगभग हर दर्शन को ही इस विरोध से जूझना पड़ता है। कोई दर्शन इसे कैसे और किस हद तक सुलझाता है, यह उसकी

सफलता का प्रामाणिक मापदण्ड माना जा सकता है। प्रायः सभी दर्शन इन दो में से एक को असत् कहकर इस विरोध को अति सरलता से दूर कर देते हैं। जड़वाद चेतन तत्त्व को असत् कह देता है, विचार को मस्तिष्क का स्राव बता देता है, जैसे यकृत का पित्त होता है। दूसरी ओर, मायावादी जगत् को मिथ्या कह देता है, केवल ब्रह्म को ही सत्य बतलाता है। परन्तु श्रीअरविन्द आग्रह-पूर्वक कहते हैं कि जागरित, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय की चारों अवस्थाओं में जो भी अनुभव मानव को प्राप्त होता है, उसमें से किसी को भी हम मिथ्या नहीं कह सकता। उसका कुछ-न-कुछ तो अस्तित्व है न ? उस अस्तित्व की वास्तविक मर्यादा जानने का हमें यत्न करना होगा, न कि उसे मिथ्या कहकर टाल देना। श्रीअरविन्द जड़ तत्त्व के जाग्रत् अनुभव तथा आत्म-तत्त्व के 'तुरीय' अनुभव दोनों को सत्य मानते हैं, जगत् और ब्रह्म दोनों को सत्य बताते हैं, अतः इनका समन्वय उनके लिए वस्तुतः विशेष कठिन प्रश्न बन जाता है। पश्चिम के दार्शनिक इतिहास में भी यही प्रश्न आधारभूत रहा है कि जड़ और चेतन का तथा बहुत्व और एकत्व का समाधान किया जाय तो कैसे ? प्लेटो और अरस्तु से लेकर बर्गसाँ तक अनेक प्रयास हुए हैं और इनमें कई अत्यन्त प्रतिभापूर्ण तथा साहसपूर्ण थे, परन्तु दर्शन के इस आधारभूत प्रश्न का समाधान जिस धैर्य और प्रतिभा से श्रीअरविन्द ने किया है, वैसा पूर्व अथवा पश्चिम में शायद अभी तक नहीं हुआ। इस समाधान का प्रतिपादन ही उनके बृहत् दार्शनिक ग्रंथ 'भागवत जीवन' 2 के लगभग 1600 पृष्ठों का विषय है।

दार्शनिक गवेषणा में प्रश्न को स्पष्ट रूप से उपस्थित करना विशेष महत्त्वपूर्ण होता है। प्रश्न स्पष्ट होने से उत्तर देने में तथा उसे समझने में अपूर्व सरलता हो जाती है। हमने अपने प्रश्न को प्रस्तुत करने में काफी विस्तृत व्याख्या से काम लिया है, परन्तु इसमें अपने-आप ही हमारे उत्तर की बहुत-कुछ रूपरेखा स्पष्ट हो गई है।

श्रीअरविन्द के लिए सर्वव्यापक सत्त का स्वरूप किसी भी प्रकार का द्वैत नहीं हो सकता, वह अवश्य ही अद्वैत होगा, परन्तु वह शंकरवादी अद्वैत नहीं हो सकता, क्योंकि उनके लिए जगत् तो सत्य है, और यदि जगत् सत्य है तो सगुण सत्ता सारी सत्य होगी और उसके साथ मानवीय व्यक्तित्व भी। यह स्थिति अवश्य ही निर्गुण ब्रह्मवाद से बहुत भिन्न है। है तो यह ब्रह्मवाद ही, परन्तु इसमें सगुण सत्ता का पूरा समावेश है। इसे हम सगुण ब्रह्मवाद भी नहीं कह सकते, क्योंकि सगुण सत्ता ब्रह्म में समाविष्ट है, ब्रह्म उस सत्ता में परिसमाप्त नहीं हो

जाता। उसका निर्गुण परात्पर स्वरूप भी है। वास्तव में, यह ब्रह्म सम्पूर्ण अंतिम सत्ता होने का रूप में जरूर ही निरपेक्ष, केवल सत्ता होगा और हर प्रकार की सीमा से मुक्त होगा। हमारे मानवीय विचारों के जितने छोटे-बड़े द्वंद्व हैं, वह उनसे परे होगा। उसमें वे द्वंद्व समन्वय को ही नहीं, बल्कि परस्पर पूरक भाव को भी प्राप्त हो जायेंगे। वह ब्रह्म सगुण है और निर्गुण भी, वैयक्तिक है और निर्वैयक्तिक भी, सदा पूर्ण तथा विकसनशील भी, सत् तथा असत् भी। वह हमारी सब द्वैतात्मक धारणाओं का आधार है। वह अवश्य ही उन सबसे परे होना चाहिए। उसमें वे सब द्वैत अनिवार्य रूप से पूरक-भाव को प्राप्त होने चाहिए। संपूर्ण सत्ता का स्वरूप अचिंत्य है, अगम्य है। इस ब्रह्मवाद को सर्वांगीण ब्रह्मवाद कहना ही उचित होगा।

संपूर्ण सत्ता के स्वरूप ही धारणा बनाने में दार्शनिक बहुधा सामान्य न्याय और युक्तिशास्त्र के विचारों को, जो कि देश-काल-सीमित पदार्थों की मर्यादा बाँधने में उपयुक्त हैं, देशकालातीत परम सत्ता पर भी आरोपित करने लगते हैं। हम कह सकते हैं कि यह कुछ अज्ञात रूप में ही होता है, परन्तु इसका फल दार्शनिक दृष्टि से बड़ा अनिष्टकर होता है। अंतिम सत्ता या तो बौद्धों का शून्य या शंकराद्वैत को निर्गुण ब्रह्म या किसी अन्य प्रकार की एकांगी वस्तु बन जाती है, और या फिर यह प्रत्यक्ष जगत् सब-कुछ हो जाता है, अंतिम सत्ता अस्वीकार ही कर दी जाती है। पूर्वी और पश्चिमी दर्शनों के इतिहास में इस वृत्ति से जो कठिनाइयाँ पैदा हुई हैं, वे किसी से छिपी नहीं। परन्तु श्रीअरविन्द की ब्रह्मविषयक धारणा दर्शन के लिए एक अपूर्व वस्तु है।

श्रीअरविन्द का ब्रह्म सत्ता की पराकाष्ठा है। वह नितान्त परम अचिंत्य और अगम्य है। परन्तु मानव अपनी प्रकृति और स्वभाव के नाते एक निकटतर सत्ता को अधिगत करता है। यह सत्ता उसके जीवन का मूर्तिमान् आदर्श तथा आकर्षण है। वह सत् है, वह चित् है, वह आनन्द है। यह पूर्ण सच्चिदानन्द-सत्ता उनका ईश्वर है, परमात्मा है। यही सत्ता जगत् की रचयित्री है। मनुष्य के ज्ञान, कर्म और भक्ति की त्रिविधि गतियों की उसमें परिपूर्णता है, क्रियात्मक रूप में मनुष्य के लिए वही उच्चतम सत्ता है। श्रीअरविन्द कहते हैं, "वैदान्तिक ऋषि जब सच्चिदानन्द-विषयक इस विचार पर, इस निश्चयात्मक अनुभव पर, पहुंच चुके कि वह हमारी चेतना के लिए सद्बस्तु की उच्चतम भावात्मक अभिव्यक्ति है तो उसके बाद भी उन्होंने अपनी परिकल्पनाओं में असत् को ला खड़ा किया अथवा अपनी बोधनाओं में वे असत्य की ओर बढ़ते

गए।³ इस असत् और सच्चिदानन्दरूपी सत् के आत्यंतिक विरोधों के समन्वय का क्षेत्र वह ब्रह्म है। परन्तु श्रीअरविन्द कहते हैं, "विश्व के अन्दर इस सद्वस्तु का सर्वोच्च अनुभव यह सिद्ध करता है कि वह न केवल चिन्मय सत्मात्र हैं, अपितु परम प्रज्ञा और शक्ति तथा स्वयंभू आनन्द भी है, और विश्व के परे वह फिर भी कोई अन्य अज्ञेय सत्ता, कोई आत्यंतिक तथा अनिर्वचनीय सत्ता है।"⁴

सामान्यतया सच्चिदानन्द की धारणा अपने-आपमें अंतिम दिखाई देगी और उससे परे के असत् के विचार में तथा सत्-असत् के समन्वय-रूप ब्रह्म के विचार में कष्ट अनुभव होगा, परन्तु जब मानव-जिज्ञासा असमी को असीम भाव में खोजती है, जैसा कि उपनिषदों के ऋषियों ने किया था, तब ये परिणाम अनिवार्य हो जाते हैं। ये मानवीय चिंतन की मांग है तथा मानवीय उच्चतम तुरीय अनुभव के प्रत्यक्ष सत्य।

परन्तु मानवीय चेतना के साक्षात् संबंध से सच्चिदानन्द ब्रह्म ही पूर्ण निरक्षेप सत्ता है। इसकी धारणा को हमें जरा और स्पष्ट करना होगा। श्री अरविन्द कहते हैं, "जब हम अपनी दृष्टि को सीमित तथा क्षणिक स्वार्थों से, उसकी अहंभावनीय व्यस्तता से हटाते हैं और केवल परम सत्य की खोज करने वाली राग-द्वेष-शून्य तथा कुतूहलपूर्ण दृष्टि के साथ संसार का अवलोकन करते हैं, तो इसके परिणास्वरूप जो सर्वप्रथम प्राप्ति हमें होती है, वह है अनन्त सत्ता, अनन्त गति, अनन्त क्रिया की एक ऐसी अपार शक्ति का बोध, जो कि असीम देश में, नित्य काल में अपने-आपको उंडेल रही है।"⁵ इस प्रकार हम एक अनन्त शक्ति और गति का अनुभव करते हैं। परन्तु क्या यह शक्ति ही सत्ता है या यह शक्ति किसी सत्ता की अभिव्यक्ति है? वास्तव में दोनों विचार ही अनिवार्य दिखाई देते हैं। सत्ता (बीडिंग) भी और संभूति (बिकमिंग) भी। 'एकं ब्रह्म द्वितीय नास्ति' – एक ब्रह्म ही है, दूसरा कुछ नहीं – दर्शन का एक महावाक्य है। परन्तु इसके साथ ही विचारने योग्य एक और महावाक्य भी है। वह है 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' – निश्चय ही यह सबकुछ ब्रह्म है। इन दोनों को हम अलग-अलग नहीं ले सकते, इसमें परस्पर-पूरकता का संबंध है।

इस प्रकार वह शुद्ध सत् ही जगत् में अभिव्यक्त हो रहा है। परन्तु यह जड़ प्रकृति तो उस सत् का नितान्त खंडन प्रतीत होती है। मनुष्य की मानसिक चेतना भी अज्ञात और दुःख-ताप में ग्रस्त है। प्रश्न पैदा होता है कि यह उस शुद्ध सच्चिदानन्दरूपी ब्रह्म की

अभिव्यक्ति कैसे ? पहले तो सामान्य अनुभव के प्रमाण पर यह कहना कठिन है कि जड़ नितान्त अचेतन है भी या नहीं ? प्राणी और उद्भिज में कहीं बंटवारे की पक्की लकीर खींचना संभव नहीं। डॉ० जगदीश चन्द्र बोस ने अपनी गवेषणा द्वारा जो सिद्ध किया, उससे पता चलता है कि पेड़-पौधों में ऐसी प्रतिक्रियाएं मौजूद हैं, जो प्राणी के व्यवहार के साथ बड़ी समता रखती हैं। फिर उद्भिज और धातु की क्रियाएं-प्रतिक्रियाएं ऐसी मिलती-जुलती हैं कि उन्हें निश्चयात्मक रूप से दो श्रेणियों में नहीं बांटा जा सकता। इसी प्रकार धातु और शेष सामान्य जड़ प्रकृति में अन्तर करना कठिन है। इस प्रकार मानव-चेतना, पशु-चेतना, वनस्पति की प्रतिक्रिया, धातु की प्रतिक्रिया, धातु की प्रतिक्रिया और प्रत्यक्षतः नितान्त जड़ पदार्थ में एक क्रम है, एक अटूट सिलसिला है। जब हम इस शृंखला की अटूट कड़ियों को विचारपूर्वक और धीरत से देखते हैं तो हम अनिवार्यतः अनुभव करते हैं कि सत् के विस्तृत अनुभव में कहीं हमें दो ऐसे पदार्थ नहीं मिलते, जो एक दूसरे-से सर्वथा विरुद्ध हों। आखिर जड़ प्रकृति तो प्राकृतिक नियमों की मर्यादा को स्वीकार करती है, यानी वह चेतना के सम्पर्क को ग्रहण करने की शक्ति रखती है। जरूर ही, मूल में वह चैतन्य तत्त्व से सहानुभूति रखती है, शायद उसका परिवर्तित स्वरूप ही है।

परन्तु प्रश्न पैदा होगा कि उस सत् और चित् ब्रह्म के ये नदी-पर्वत, वनस्पति, पशु, मनुष्य आदि परिवर्तित रूप क्यों बने ? इनका क्या प्रयोजन हो सकता है ? श्रीअरविन्द इस प्रश्न को और तरह से उपस्थित करते हैं, "भला ब्रह्म को - पूर्ण, निरपेक्ष अनन्त, निरीह, निष्काम ब्रह्म को - अपने अन्दर ये नानारूपमय लोक पैदा करने के लिए चेतना की शक्ति को बाहर फेंकना ही क्यों चाहिए ?"6 एक ही वाक्य में वह इसका उत्तर दे देते हैं, "यदि गयति करने अथवा नित्य निश्चल रहने में, अपने आपको रूपों में प्रकट कर डालने या रूप की गर्भित शक्ति को अपने अन्दर धारित रखने में प्रकट कर डालने या रूप की गर्भित शक्ति को अपने अन्दर धारित रखने में स्वतंत्र होता हुआ भी ब्रह्म गति तथा रचना की अपनी शक्ति को तृप्त करता है, तो ऐसा केवल एक ही हेतु से हो सकता है - आनन्द के हेतु से।"7 अतः जगत् का सारा व्यवहार आनन्द के लिए है। इसके अनन्त रूप और गतियां अनन्त प्रकार से आनन्द-वृद्धि के ही साधन हैं। परन्तु यह कहना क्या व्यावहारिक मानव के साथ उपहास करना नहीं ? वह तो अनेक प्रकार के दुःख और संकटों से बेहद पीड़ित है। वह भला कैसे

यह स्वीकार करे कि ये व्याधिरोग, दुःख-संकट, व्यक्तिगत तथा सामूहिक, सब वास्तव में आनन्द की उतरती-चढ़ती लहरें मात्र हैं ?

अवश्य ही, विषय को स्वतंत्र भाव से विचारने के लिए हमें अपनी अहंकारमयी दृष्टि से जरा तटस्थ होकर देखने का यत्न करना होगा। मनुष्य को यह भावना छोड़नी होगी कि संसार का केन्द्र मैं हूँ और मेरी क्षणिक इच्छाएँ ही इसमें विशेष महत्त्व की हैं। हमें निर्वैयक्तिक रूप से संसार को विचारना होगा। संसार में दुःख से सुख जरूर अधिक है, तभी तो हमें जीवन में रुचि है, उससे मोह हैं। फिर, क्योंकि दुःख हमें विशेष चुभता और अखरता है, इसका क्या यह कारण नहीं कि दुःख हमारी प्रकृति के लिए असाधारण है, साधारण स्थिति सुख की है। इस संबंध में यौगिक अनुभव का प्रमाण सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। वह यह कि व्यक्ति दुःख को आनन्द में परिवर्तित कर सकता है, दुःख-सुख की अनुभूतियाँ हमारे उथले मानस-तत्त्व की अम्यासजन्य प्रतिक्रियाएँ हैं। हम गंभीर स्थिति में स्थित होकर उन्हीं सम्पर्कों में एक-रस आनन्द भी अनुभव कर सकते हैं। यह अनुभव दार्शनिक विचार के लिए अत्यन्त महत्त्व का है। इसमें सब प्रकार के दुःख-ताप का समाधान निहित है।

अच्छा, मान लिया कि मूल में सारा चराचर जगत् आनन्द का समुद्र है परन्तु प्रतीति में इनमें दुःख क्यों है ? यह प्रश्न तो फिर भी उठेगा ही। श्रीअरविन्द कहते हैं कि इस प्रश्न को हमें अन्य प्रकार से उपस्थित करना चाहिए, "केवल तथा अत्यन्त सत्-चित्-आनन्द ने अपने-अपने अन्दर उस वस्तु को प्रवेश ही कैसे करने दिया, जो आनन्द नहीं, जो इसका निश्चित खण्डन-रूप प्रतीत होती है।" 8

श्रीअरविन्द का उत्तर है कि सच्चिदानन्द आत्म-विभाजन द्वारा देश-काल-बद्ध जगत् को रचता है। यह आत्म-विभाजन विभिन्नता को और विभिन्नता में पुनः आत्म-एकता को प्राप्त करने के आनन्द के लिए ही हो सकता है। विभक्त अवस्था से पुनः आत्म-प्राप्ति की प्रक्रिया में, जो कि जगत्-विकास का क्रम है, सुख-दुःख एक विशेष अवस्था का धर्म है। अहंकारमय प्राणी बहिर्मुख भाव में वस्तुओं के उथले और बहिर्मुख भाव को त्याग दे, अपने गंभीर भाव में स्थित होकर वस्तुओं के गंभीर भाव का सम्पर्क प्राप्त करे, तो विशुद्ध आनन्द को अनुभव करेगा। अतः सुख और दुःख आत्म-विभाजन और आत्म-विस्मृति की एक अवस्था के सहचारी गुण हैं, जो कि आत्म-प्राप्ति के क्रम में अनिवार्य रूप से अतिक्रान्त हो जायेंगे।

जगत् ब्रह्म की अभिव्यक्ति है, स्व-प्रकाश है, नाम और रूप में आत्म-चरितार्थता है। इसमें उच्चतम आशय आनन्द की प्रेरणा से आनन्द की उपलब्धि ही हो सकता है। पूर्ण और केवल ब्रह्म के लिए कोई दूसरा आशय संगत नहीं। उपनिषद् (तैत्तिरीय) ने इस तथ्य को अत्यन्त बलपूर्वक व्यक्त किया है – “आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति।” अर्थात् – आनन्द से ही ये जीव उत्पन्न होते हैं, आनन्द से उत्पन्न हुए जीते हैं और आनन्द को ही प्राप्त होते हैं।

श्रीअरविन्द के लिए पूर्ण ब्रह्म के तीन अनिवार्य पक्ष, अंत या स्थितियां हैं जगत् या विश्व उसका असीम देश-काल में सार्वभौम रूप है। इस सार्वभौम या समष्टि-रूप का व्यष्टि एक अनिवार्य अंग है। ये समष्टि तथा व्यष्टि ब्रह्म की अभिव्यक्ति हैं, उसके गत्यात्मक भाव के मूर्तिमान रूप हैं। परन्तु वह स्वयं इसमें परिसमाप्त नहीं हो जाता, क्योंकि वह पूर्ण सत्ता है, उसका सान्त व्यष्टियों के परे, जगत् के परे, परात्पर रूप होना भी अनिवार्य है। इस प्रकार व्यष्टि, समष्टि और परात्पर तत्त्व – तीनों ब्रह्म की ही स्थितियां हैं और स्थितियां होने के कारण तीनों ही नित्य हैं; व्यक्ति और जगत् भी उसी तरह, जैसे परात्पर ब्रह्म। परन्तु हम उन्हें तीन स्वतंत्र सत्ताओं के रूप में कल्पि नहीं कर सकते। सत्ता अन्त में अनिवार्य रूप से एक सुसबद्ध और संगठित तत्त्व होना चाहिए। ‘अनेकत्व’ उस ‘एकत्व’ के ही आंतरिक संबंधों का विभेद हो सकता है। अद्वैत प्रायः ‘एकत्व’ विचार पर इतना मुग्ध हो जाता है कि ‘अनेकत्व’ को वह मिथ्या कह देता है। अनद्वैत दर्शन ‘अनेकत्व-भाव से ऐसे प्रभावित होते हैं कि वे अंतिम सत्ता को ही खण्डित कर डालते हैं। वास्तव में, हम कह सकते हैं कि दर्शन का मूल उत्तरदायित्व अनेकत्व और एकत्व का समाधीन ही है।

श्रीअरविन्द इस उत्तरदायित्व को स्वीकार करते हैं। अनुभव के किसी भी क्षेत्र को, अनेकत्व को अथवा एकत्व को मिथ्या कह देने के लिए वह तैयार नहीं। वह उनका उचित समाधान करना ही अपने दर्शन का ध्येय अंगीकार करते हैं। पूर्ण सत्ता एक है तथा व्यष्टि, समष्टि और परात्पर भाव उनकी तीन स्थितियां हैं, यह उनके दर्शन का एक आधारभूत विचार है तथा अतिमानसिक स्तर के उच्च आध्यात्मिक अनुभव का तथ्य है।

ब्रह्म के इस विवेचन से व्यक्ति और जगत् को सार्थकता अवश्य प्राप्त होती है, इससे श्रीअरविन्द की मुख्य स्थापना को, कि मानव के लिए जगत् में पृथ्वीतल पर ही इहव, दिव्य

जीवन संभव है, हम समझ सकते हैं। अवश्य ही, जबकि जगत् और व्यक्ति गुह्य रूप में ब्रह्म हैं, तो प्रकट रूप में भी वे वही हो सकते हैं, जगत् और मानव, जो आज मानसिक चेतना को व्यक्त कर रहे हैं, वे अतिमानसिक स्थिति की ब्राह्मी चेतना को भी व्यक्त कर सकेंगे।

परन्तु यह प्रश्न पैदा हुए बिना नहीं रहता कि जब सब—कुछ ब्रह्मही है तो फिर यह अपूर्ण जगत् और अज्ञानी मानव क्यों देखने में आते हैं ? पूर्ण ब्रह्म के विचार के साथ इस अपूर्णता और अविद्या की भला कैसे संगति बिठाई जा सकती है ? यह प्रश्न मानव के चिंतन को सदा से आन्दोलित करता आया है।

जगत् की सृष्टि का प्रश्न बड़ा जटिल प्रश्न है और इसका उत्तर ढूंढने के लिए हमें बड़ी सावधानी से काम लेना होगा। पहले तो व्यक्तिगत सुख—दुःख, आशा—निराशा के भावों को अलग करके विषय को विचारना होगा ? दूसरे, मानवमात्र के विस्तृत अनुभव को ध्यान में रखना होगा। जाग्रत अवस्था के व्यावहारिक जीवन के अनुभवों के अतिरिक्त तुरीयादि अन्य अवस्थाओं के अनुभवों को भी विचारना होगा। तीसरे, हम जगत् के अर्थों की ही खोज कर सकते हैं, हम यह नहीं कह सकते कि “ब्रह्म ने इसे ऐसा क्यों बनाया ? इससे और अच्छा क्यों नहीं बनाया ? इससे और अच्छा क्यों नहीं बनाया ?” ऐसी शंका की जड़ में मानव की प्राणिक इच्छा होती है, जो उसे कभी संतुष्ट नहीं होने देती।

जगत् और सृष्टि—क्रम को हम मिथ्या तो कह ही नहीं सकते। फिर ब्रह्म की पूर्णता को विचारते हुए हम जगत् की अपूर्णता को ब्रह्म के आत्म—संकल्प द्वारा आत्म—परिसीमन अथवा आत्म—विभाजन का ही परिणाम मान सकते हैं। जो असीम है, उसमें ससीम होने की शक्ति भी माननी होगी। जगत् के विषय में विचार करते हुए हम पहले देख चुके हैं कि जड़, उद्भिज, पशु और मनुष्य में एक अनवरत क्रम है, एक विकास है। इस विकास में चेतना की उत्तरोत्तर वृद्धि दिखाई देती है। परन्तु अचेतन में से चेतन का विकास असंभव है। अतः हमें स्वीकार करना होगा कि जड़ प्रकृति, जो प्रत्यक्षः अचेतन है, निहित रूप में जरूर चेतन होगी। यह प्राचीन औपनिषदिक विचार है, जिसको न जानकर पश्चिमी विकासवाद अनेक वैज्ञानिक संकटों में पड़ गया। अब वह निहित चेतना ब्रह्म की आत्म—संकल्प द्वारा अणुओं—परमाणुओं में विभक्त और प्रसुप्त चेतना ही हो सकती है। इस प्रकार एक व्यापक अचेतना अथवा अवेचतन विकासक्रम का आधार है। अणुओं—परमाणुओं की खंडित अचेतना में से ही फिर धीरे—धीरे नया

संगठन होना शुरू होता है – उद्भिज बनते हैं, पशु बनते हैं, मनुष्य बनते हैं। मानव चेतना की स्थिति बड़े महत्त्व की है। इसमें एक विशाल संश्लेषण अथवा एकीकरण दिखलाई देता है, एक व्यक्तित्व की रचना मिलती है। परन्तु यह व्यक्तित्व अहंमय है, यह एक अहं-इतर जगत् से सदा ही संघर्ष करता रहता है, और इसकी यह दुविधामय स्थिति एक उच्चतर, पूर्ण रूप से एकीकृत अवस्था का निश्चित संकेत देती है, जो कि विकासक्रम का भावी मार्ग दिखाई पड़ता है।

ऐसा प्रतीत होता है, मानो विकासक्रम ब्रह्म की ऐक्यपूर्ण चेतना की ओर बढ़ रहा है। यहां हमें दो क्रम दीखते हैं, विकास अथवा विवर्तन के साथ एक पूर्वगामी निवर्तन। निवर्तन द्वारा ब्रह्म जड़ प्रकृति की व्यापक अवचेतना में विभक्त और प्रच्छन्न हो जाता है और फिर विवर्तन द्वारा उत्तरोत्तर आत्म-गवेषणा के क्रम में आत्मलाभ करता जाता है। इसमें जो नये अनुभव का लाभ है, वही आनन्द की प्रेरणा है। ब्रह्म के संबंध में यह शंका संगत न होगी कि जो पूर्ण है, उसे कुछ नया कैसे उपलब्ध हो सकता है, क्योंकि जो पूर्ण है, वह रचनाशीलता में न्यून कैसे हो सकता है ?

इस प्रकार ब्रह्म की आत्म-अभिव्यक्ति में जगत् आत्म-प्रच्छन्नता, आत्म-गवेषणा तथा आत्मोपलब्धि का क्षेत्र है और व्यक्ति वह निश्चित बिन्दु है, जहां ये क्रियाएं कार्यान्वित होती हैं।

सृष्टि की उत्पत्ति के उपर्युक्त विचार के संबंध में मानव-मन फिर भी शंका करेगा कि पूर्ण ब्रह्म ने जगत् का क्रम इस प्रकार निर्धारित क्यों नहीं किया कि उसमें दुःख-ताप होता ही नहीं, भगवान् की आत्म-अभिव्यक्ति भी हो जाती और प्राणियों को भी कष्ट न होता। इसका उत्तर देना वास्तव में संभव नहीं। परन्तु यह जरूर कहा जा सकता है कि यदि मानव अपने अन्दर गहरी स्थिति से जगत् के सामान्य संपर्कों को अनुभव करके देखे तो वही उसे आनन्दपूर्ण प्रतीत होंगे। एक आवरणमात्र के पीछे छिपा हुआ उसका जो वास्तविक अस्तित्व है, वह आनन्दमय है। फिर हम यह भी देख सकते हैं कि दुःख मानव का महान् शिक्षक है, उसके विकास का साधक है। व्यक्तिगत और उथली चेतना के दृष्टिकोण को जरा छोड़कर यदि हम जगत् को सार्वभौम सत्ता के रूप में विचारें तो हम काफी सुगमता से यह अनुभव कर पायेंगे कि दुःख गौण गति है। जीवन की प्रधान धारा आनन्द है। आध्यात्मिक अनुभव तो जगत् को शुद्ध लीला बतलाता है। अतः अपूर्णता और अविद्या ब्रह्म में नहीं, वे मानव के अपने मानसिक

स्तर की विकास—स्थिति के सापेक्ष धर्म हैं। उस स्तर को अतिक्रांत कर जाने से वह उन्हें भी पार कर जायेगा।

हमारी ब्रह्म की भावना प्रत्यक्ष ही सत्ता के कई स्तर कल्पित करती है। ब्रह्म जबकि पूर्ण होते हुए विकसनशील भी है, तो चरम तत्त्व में न्यूनाधिक का भेद मानना होगा, सत्ता के क्रमिक स्तर स्वीकार करने होंगे। ये स्तर श्री अरविन्द के अनुसार आठ हैं :-

1. जड़ 2. प्राण 3. मन 4. अंतरात्मा 5. अतिमानस

6. आनन्द 7. चित् 8. सत्

ये एक से आठ तक सीधे क्रम में विवर्तन के द्योतक हैं तथा आठ से एक तक उल्टे क्रम में निवर्तन के। इनके अपने—अपने धर्म को जानना तथा क्रमिक संबंधों को जानना सम्पूर्ण सत्ता को जानने में कितना सहायक होगा, यह हमें धीरे—धीरे ही पता लगेगा। यहां केवल इतना कहना आवश्यक है कि श्रीअरविन्द के दर्शन में इस विवेचन का विशेष स्थान है और उन्होंने इन सब स्तरों का गंभीर दार्शनिक तथा आध्यात्मिक निरूपण किया है और इस ब्यौरेवार निरूपण की सहायता से वह कई जटिल दार्शनिक गुत्थियों को सुलझाने में अपूर्व रूप में सफल हुए हैं।

विकास—क्रम की वर्तमान सामान्य उच्चतम स्थिति मन है। परन्तु विशेष व्यक्तियों में इसका अतिक्रमण संभव हो पाया है। मानव—इतिहास में ऐसे व्यक्ति बार—बार मिलते हैं, जिन्होंने अन्तरात्मा तथा इससे उच्चतर चेतना के स्तरों पर निवास किया है। अन्तरात्मा का स्तर मन के स्तर से निश्चित रूप से भिन्न है। जहां मन बहिर्मुख है, उथले रूप में रस, गंध आदि सम्पर्कों का ग्रहण करने वाला तथा द्वन्द्वपूर्ण प्रतिक्रिया वाला है, अन्तरात्मा, इसके विपरीत, अन्तर्मुखी है, वस्तुओं के गंभीर सम्पर्कों को खोजती है तथा सदा एकरस आनन्द को अनुभव करती है। मन सदा व्यावहारिक रूप में प्रकृति—अभिमुख होता है। अन्तरात्मा स्वभाव से जगत् के आत्म—तत्त्व, भगवान् को खोजती है। यह वास्तव में भगवान् को ही अंश है — ऐसा अंश, जो विकास प्रवृत्त है, जो मानव को चेतना के उच्चतर स्तरों की ओर अन्दर ही अंदर प्रेरित करता है। अन्तरात्मा और आत्मा एक ही अस्तित्व के दो पक्ष हैं, एक खत्यात्मक और दूसरा शुद्ध सत्तात्मक। यह श्रीअरविन्द के आध्यात्मिक अनुभव की एक विशेष उपलब्धि है। ब्रह्म में भी वह ये दो पक्ष मानते हैं, और उनका कहना है कि यह ब्रह्म को केवल सत्तात्मक तत्त्व

मानने का ही फल था कि जगत् को मिथ्या कहना पड़ा। ब्रह्म की पूर्णता की यह मांग है कि वह सत्तात्मक होने के साथ-साथ गत्यात्मक भी हो। तभी जगत् उसकी यथार्थ अभिव्यक्ति हो सकता है।

अन्तरात्मा से अतिमानस तक विकास का लम्बा मार्ग है, जिसमें कई पड़ाव आते हैं और जिन तक अनेक व्यक्ति पहुंचे हैं। परन्तु अतिमानस एक विशेष स्थिति है। उसमें मन का समूल रूपान्तर हो जाता है, चेतना पूर्णतया एकीकृत हो जाती है; सत्य को धारण करती है। 'अनेकत्व' को यथार्थ 'एकत्व' में अनुभव करती है; मन, प्राण और शरीर अध्यात्मीकृत होकर अमरत्व अनुभव करते हैं, मर्त्य धर्म को अतिक्रान्त कर जाते हैं। अतिमानसिक स्थिति की कल्पना भी आज कठिन है, परन्तु वैदिक ऋषियों ने इसकी चर्चा की है। वे ऋतचित् सत्यधारी चेतना, का ज्वलंत वर्णन करते हैं। अतिमानस के स्तर का श्रीअरविन्द-दर्शन में विशेष स्थान है। अतिमानस में ही अविद्या का विद्या में रूपान्तर होता है। इसमें ही विकास के स्तरों का पूर्वार्ध उत्तरार्द्ध में परिवर्तित हो जाता है। जड़, प्राण, मन और अन्तरात्मा के अर्ध में विकास अविद्या अथवा ज्ञान की प्रक्रिया से। अतिमानस ही वह मार्मिक स्तर है, जो जगदुत्पत्ति का पूरा समाधान करता है, क्योंकि वह शुद्ध ब्रह्म की एकता को और जगत् की अनेकता को एक सामंजस्य में उपस्थित कर देता है।

पश्चिम के विकासवादी भी मानव के मानसिक स्तर को अंतिम मान लेते हैं। परन्तु यदि मन की स्थिति तक विकास दिखाई देता है तो कोई कारण नहीं कि मन से आगे विकास-क्रिया क्यों न चलती रहे। श्रीअरविन्द निश्चयात्मक रूप से कहते हैं कि अतिमानस की अभिव्यक्ति जागतिक विकास का अगला लक्ष्य है, और क्योंकि मानव-स्थिति में सचेतन विकास संभव हो जाता है, अतः अब विकास-गति द्रुततर हो जानी संभव है। अतिमानस की यह चरितार्थता ही मर्त्यलोक में अमृतत्व की आशा और आश्वासन है, पृथ्वीतल पर दिव्य जीवन की संभावना है। दर्शन की खोज है : व्यक्ति और जगत् के यथार्थ अर्थ और स्वरूप। मानव और जगत् दोनों ही अपने निहित रूप में ब्रह्म हैं, आत्म-सत्ता हैं। विकासक्रम में यही निहित तत्त्व उत्तरोत्तर प्रकाश में आ रहा है। अतः मानव-जगत् में पूर्ण आत्मा का प्रकाश संभव ही नहीं, अपितु अनिवार्य है। मानव, जा इस विकास का अग्रदूत है, योग की सचेतन क्रिया से इसे अधिक बलपूर्वक गति दे सकता है। परन्तु मानव की आरोहणात्मक गति की सहचारिणी

अवरोहणात्मक एक दूसरी गति सदा ही साथ काम करती रहती है। जहाँ नीचे के स्तरों की निहित चेतना ऊपर उठने के लिए जोर मारती है, वहाँ ऊपर के स्तरों की प्रस्फुट चेतना नीचे के स्तरों में आकर प्रकट होने के लिए यत्नशील रहती है। ये दोनों वैश्व प्रयत्न विकास की गति दे रहे हैं तथा वस्तुओं के निहित आत्म-रूप को प्रकट करने में संलग्न हैं।